अष्टावक्र गीता

अध्याय - 2

1. **अहो निरंजनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।**
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडंबितः।।
आश्चर्य है! मैं तो शुद्ध शान्त ज्ञानस्वरूप एवं प्रकृति से सर्वथा परे हूं। इतने समयतक अज्ञान ने ही मुझे दुनिया में फंसा कर रखा था।

2. **यथा प्रकाशयाम्येको देवमेनं तथा जगत्।**
अतो मम जगत्सर्वं अथवा न च किंचन।।
जैसे मैं अकेला ही इस शरीर को प्रकाशित करता हूं। वैसे ही सम्पूर्ण जगत् को भी प्रकाशित करता हूं। अतः सम्पूर्ण जगत् मेरा है, अथवा कुछ भी मेरा नहीं है।

3. **सशरीरमहोविश्वं परित्यज्य मयाऽऽधुना।**
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलीयते।।
आश्चर्य की बात है कि मैं शरीर और सम्पूर्ण दृश्य जगत् का परित्याग करके किसी अनिर्वचनीय कौशल से वर्तमान क्षण में ही परमात्मा का दर्शन कर रहा हूं।

4. **यथा न तोयतो भन्नास्तरंगाः फेनबुद्बुदाः।।**
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्।।
जैसे तरंग, फेन, और बुद्बुदें जल से भिन्न नहीं है, वैसे ही यह दृश्यमान प्रपंच भी आत्मसत्ता से पृथक् नहीं है क्योंकि यह आत्मा से ही प्रकाशित है। आपेक्षिक सत्ता वास्तव में मिथ्या ही है।

5. **तन्तुमात्रो भवेदेव घटो यद्वद्विचारतः।**
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्।।
जैसे विचार करने पर वस्त्र तन्तुमात्र ही है, पृथक् नहीं, वैसे ही विचार करने पर यह सम्पूर्ण विश्व केवल आत्मसत्ता ही है।

6. **यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा।**
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम्।।
जैसे मिठास गन्ने के रस में कल्पित है और रस से व्याप्त ही है, वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व मुझमें कल्पित है और मुझसे ही व्याप्त है।

7. **आत्माऽऽज्ञानाज्जगद्विभाति आत्मज्ञानान्न भासते।**
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद् भासते न हि।।
अपने आपको न जानने से जगत् की सत्यवत् प्रतीति होती है। अपने आपको जान लेने पर नहीं होती। रस्सी को न जानने से सांप की प्रतीति होती है, जानने पर नहीं।

8. **प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।**
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहंभास एव हि।।
मेरा निज स्वरूप ज्ञान है। मैं उससे पृथक् नहीं हूं। जब जब यह विश्व प्रकाशित होता है तब तब मेरे प्रकाश से ही पृथक्-पृथक् ज्ञेय भासित होते है।

9. **अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।**

रूप्यं सुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा।

आश्चर्य है कि जैसे सीप में चांदी, रस्सी में सांप एवं सूर्य की किरणो में जल की प्रतीति होती है, वैसे ही यह अज्ञान–कल्पित विश्व मुझमें भास रहा है।

10. **मत्तो विनिर्गतं विश्वं मयि एव लयमेष्यति।**
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा।।

जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में तरंग और स्वर्ण में कड़ा समा जाता है वैसे ही मुझमें प्रकाशित यह विश्व मुझमें ही समा जायेगा।

11. **अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।**
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः।।

मै धन्य हूं, मुझे नमस्कार है क्योंकि मेरा कभी विनाश नहीं है। ब्रह्मा से लेकर तृण तक सम्पूर्ण विश्व का नाश होने पर भी मैं स्थिति रहता हूं।

12. **अहो अहं नमो मह्यं एकोऽहं देहवानपि।**
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः।।

मै धन्य हूं, मुझे नमस्कार है,क्योंकि मैं देहधारी होने पर भी अद्धितीय हूं और न कहीं जाता हूं, न आता हूं। सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर स्थित हूं।

13. **अहो अहं नमो मह्यं दशो नास्तीह मत्समः।**
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं वृतम्।।

मै धन्य/ आश्चर्यस्वरूप हूं, मुझे नमस्कार है। मेरे समान कोई चतुर और कोई नहीं है क्योंकि मैं तो शरीर का तो स्पर्श नहीं करता और चिरकाल से विश्व को धारण किए हुए हूं।

14. **अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किंचन।**
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वांग्मसगोचरम्।।

मै धन्य हूं, मुझे नमस्कार है क्योंकि मेरा कुछ नहीं है अथवा जो कुछ वाणी और मन का विषय है वह सब मेरा ही है।

15. **ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।**
अज्ञानाद्भाति यन्नेदं सोऽहमस्मि निरंजनः।।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता वस्तुतः तीनों नहीं है। जिस अधिष्ठान में अज्ञान से यह त्रिपुटी प्रतीत होती है वह मायारहित शुद्ध ब्रह्म मैं ही हूं।

16. **द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।**
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः।।

आश्चर्य है कि समस्त दुःख का एकमात्र कारण द्वैत ही है। उसकी कोई दूसरी दवा नहीं है।

17. **बोधमात्रोऽहमज्ञानाद् उपाधिः कल्पितो मया।**
एवं विमृश्यतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम।।

मैं वस्तुतः बोध स्वरूप हूं। अपने स्वरूप से अज्ञान से मैंने उपाधि की कल्पना कर ली है, नित्य ऐसा विचार करते रहने पर यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि मेरी स्थिति निर्विकल्प में है।

18. **अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।**
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्तानिराश्रया।।

न तो कभी मुझे बन्धन हुआ न ही मोक्ष। कितने आश्वर्य की बात है कि मुझमें सम्पूर्ण विश्व की प्रतीति होते रहने पर भी वह वस्तुतः मुझ में नहीं है। आश्रयहीन होने के

कारण भ्रान्ति स्वयं शान्त हो गई।

19. **सशरीरमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चितम्।**
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽऽधुना।।
यह निश्चय है कि शरीर के साथ यह सम्पूर्ण विश्व कुछ भी नहीं है और आत्मा शुद्ध चिन्मात्र है अब यह सब कल्पना किसमें सम्भव है!!

20. **शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा।**
कल्पनामात्रमेवैतत् किं मे कार्यं चिदात्मनः।।
यह शरीर, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष और भय सब का सब केवल कल्पना मात्र है। फिर मुझ चिदात्माका क्या कुछ कर्तव्य शेष है!!

21. **अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।**
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्।।
आश्चर्य तो यह है कि इस जनसमूह में भी मुझे द्वैत नहीं दीखता, सब सूने जंगल के समान हो गया। अब मैं प्रीति किससे करूं!

22. **नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।**
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा।।
न मैं देह हूं और न तो मेरा देह। मैं जीव भी नहीं हू। मैं तो शुद्ध चेतन हूं। मेरा बन्ध तो केवल इतना ही था कि मैं जीवित रहना चाहता था।

23. **अहो भुवनकल्लोलैः विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम्।**
मयि अनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते।।
मैं एक अनन्त महासमुद्र हूं। मुझमें जब चित्तको वायु चलने लगती है तब बहुत से दृश्य पदार्थो की तरंगें उठने लगती है।

24. **मयि अनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।**
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः।।
मैं एक महासमूद्र हूं, जगत जहाज है और जीव व्यापारी। जब उनके दुर्भाग्य से चित्तरूप वायु शान्त हो जाता है तब जगत् का जहाज नष्ट हो जाता है।

25. **मयि अनन्तमहाम्भोधौ आश्चर्यं जीववीचयः।**
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः।।
आश्चर्य की बात है कि मुझ अनन्त महासमूद्र में बहुत सी जीवरूपी तरंगें स्वभाव से ही उठती है। आपस में टकराती है, लहराती हैं और समा जाती हैं।